

इकाई 32 राष्ट्रीय आंदोलन और इसकी रणनीतियां*

संरचना

- 32.1 प्रस्तावना
- 32.2 क्या राष्ट्रीय आंदोलन की कोई रणनीति थी?
- 32.3 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति
- 32.4 गांधीवादी रणनीति का निर्माण
- 32.5 गांधीवादी रणनीति का सार
- 32.6 गांधीवादी रणनीति: कुछ सामान्य बातें
- 32.7 वैकल्पिक रणनीतिक दृष्टियां
- 32.8 सारांश
- 32.9 अभ्यास

32.1 प्रस्तावना

किसी भी दीर्घकालीन राजनीतिक आंदोलन का अध्ययन छह प्रमुख घटकों पर केंद्रित करके किया जाना चाहिए— राजनीतिक लक्ष्य, कार्यक्रम और विचारधारा, रणनीति, नेतृत्व, सामाजिक आधार और वर्ग चरित्र। ये सभी घटक महत्वपूर्ण हैं। हालांकि ये सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं लेकिन इनमें से कोई भी दूसरे की जगह नहीं रखा जा सकता है और न ही किसी को दूसरे में अपघटित किया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन जैसे किसी दीर्घकालीन संघर्ष के लिए रणनीति का अपार महत्व है। संघर्ष के विभिन्न चरणों में इसके जरिए निरंतरता पैदा होती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक जटिल परिघटना थी इसलिए सीधी और इकहरी लड़ाई में उससे नहीं लड़ा जा सकता था। इसके लिए तरह तरह की ढेर सारी तकनीकों की जरूरत थी। इन तकनीकों को इतना लचीला होना चाहिए था कि समय और संदर्भ में बदलाव के अनुसार उनमें भी बदलाव लाया जा सके। फिर भी इन्हें इतना टिकाऊ और दीर्घकालीन होना चाहिए था कि नेतृत्व के बदलने पर भी कायम रहें। यह रोचक है कि आंदोलन के नेतृत्व में बदलाव होने से अनिवार्य रूप से रणनीति में बदलाव नहीं आया। इस इकाई में राष्ट्रवादी आंदोलन की रणनीति से जुड़े कुछ विशेष सवालों पर विचार किया जाएगा।

32.2 क्या राष्ट्रीय आंदोलन की कोई रणनीति थी?

इस सवाल पर विविध तरह के इतिहास लेखन में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं। मजेदार बात यह है कि दोनों ही दृष्टिकोण आंदोलन के लिए रणनीति के महत्व या उसकी मौजूदगी से इनकार करते हैं। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में अक्सर एक पारंपरिक दृष्टिकोण पाया जाता है जो आंदोलन में विचार और आदर्श, साहस और बलिदान की भूमिका को महत्वपूर्ण तत्वों के रूप में उजागर करता है। इसके पीछे मान्यता यह थी कि 1947 में जो आजादी मिली वह नेताओं और उनके अनुयायियों द्वारा प्रदर्शित साहस, निष्ठा और निरुस्वार्थ त्याग का परिणाम थी। साफ है कि ऐसा दृष्टिकोण आंदोलन में रणनीति की भूमिका को अनदेखा करेगा।

*इकाई लेखक: प्रो. सलिल मिश्रा

इसके विरोधी ध्रुवांत पर जो दृष्टिकोण है उसके उदाहरण इतिहास लेखन के कैम्ब्रिज स्कूल की कई रचनाओं में मिलेंगे। इस स्कूल ने आंदोलन को "समग्र" के रूप में नहीं, बल्कि अनेक गतिविधियों और हितों में विभाजित करके देखा। राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में यह बिखरावमूलक दृष्टि थी जो इस आंदोलन को देश और काल के स्तर पर जुड़ा हुआ नहीं समझती थी। इस दृष्टि के मुताबिक आंदोलन का आरंभिक चरण परवर्ती चरण से जुड़ा हुआ नहीं था और जो राजनीतिक ऊर्जा पैदा हुई वह स्थानीय, प्रांतीय और अखिल भारतीय स्तरों पर संकेंद्रित थी। अकसर ये स्तर अलग अलग दिशाओं में चलते थे। राजनीतिक गतिविधियों की प्रेरणा विचारों की जगह 'हितों' से ज्यादा मिलती थी। दूसरे शब्दों में कैम्ब्रिज स्कूल ने आंदोलन की ऐसी तस्वीर निर्मित की जो परस्पर संबद्ध समग्र संरचना की जगह नाना प्रकार के टुकड़ों और हितों का जमाजोड़ प्रतीत होती है। साफ है कि यह दृष्टिकोण भी रणनीति को आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक की तरह नहीं समझेगा।

इन दोनों दृष्टिकोणों के विपरीत रणनीति के बारे में असली बातचीत आंदोलन के बारे में मार्क्सवादी लेखन, खासकर बिपन चंद्र के लेखन में सामने आई। उनका कहना था कि कुल मिलाकर आंदोलन देश और काल के स्तर पर जुड़ा हुआ था। इसने अपने भीतर तरह तरह की गतिविधियों, तकनीकों और कार्यनीतियों को जगह दी। लेकिन खासकर गांधीवादी चरण में आंदोलन में केंद्रीय रणनीतिक ढांचे की मौजूदगी देखी जा सकती है। इस रणनीतिक ढांचे ने आंदोलन के क्रम में धुरी का काम किया। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक के बतौर रणनीति पर ध्यान देना बेहद जरूरी है।

32.3 औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति

किसी भी राज्य के विरुद्ध अपनाए जाने वाले रणनीतिक विकल्पों तथा उस राज्य की प्रकृति के बीच मजबूत सह-संबंध होता है। जिस तरीके से सत्ता हासिल की जाती है और उसका इस्तेमाल किया जाता है उससे तय होता है कि किस तरीके से उस सत्ता को चुनौती दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, रणनीति के सवाल को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है अगर हम इसे भारत में औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति के संदर्भ में देखें।

प्रमुख इतालवी मार्क्सवादी चिंतक अंतोनियो ग्राम्शी (1891-1937) ने राज्य की प्रकृति और उसके विरुद्ध संघर्षों की प्रकृति के बीच रिश्ते की समझ प्रदान की है। मार्क्सवादी चिंतन के बेहद महत्वपूर्ण मुद्दे पर ग्राम्शी सोच रहे थे। उनको इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि जार के रूस में जो बोल्शेविक किस्म की क्रांति सफल हो गई वह पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी लोकतांत्रिक समाजों में सफल होती हुई क्यों नहीं दिखाई दे रही है। इस सवाल का उत्तर खोजने के क्रम में उन्हें राज्य की प्रकृति पर ध्यान केंद्रित करना पड़ा जो इस उत्तर की कुंजी था। इसके बाद उन्होंने कहा कि पश्चिम यूरोपीय समाजों में राज्य की प्रकृति जार के रूस से बुनियादी तौर पर अलग थी इसलिए इन समाजों में क्रांतिकारी संघर्ष भिन्न प्रकृति का ही होगा। राजसत्ता के विरुद्ध संघर्ष की प्रमुख रणनीतियों को उन्होंने चलायमान युद्ध और मोर्चेबंदी का युद्ध में बांटा। उनका कहना था कि जब सत्ता राज्य के हाथों में काफी केंद्रित होती है तो उसके विरुद्ध चलायमान युद्ध सफल होगा। उदाहरण के लिए जार के रूस में ऐसा ही मामला था जिसमें राजसत्ता को एक ही धक्के में मटियामेट करना संभव था। लेकिन ऐसी स्थिति में जहां सत्ता विभिन्न संस्थाओं में बिखरी हुई हो और राज्य के चारों ओर ढेर सारी 'खाइयों' के जटिल जाल की किलेबंदी हो तो चलायमान युद्ध प्रभावी नहीं होगा और अलग रणनीति की जरूरत पड़ेगी। बीसवीं सदी के पूंजीवादी समाज ऐसे ही समाज थे। ग्राम्शी के मुताबिक यही मुख्य कारण है कि ऐसी

स्थितियों में समाजवादी क्रांति सफल नहीं हो सकी। ऐसी स्थितियों के लिए ग्राम्शी ने मोर्चेबंदी के युद्ध की वकालत की।

इतिहास में सभी राज्यों ने 'ताकत' और 'सहमति' के संश्रय की सहायता से शासन किया है। केवल और केवल नग्न ताकत के आधार पर कोई राज्य शासन नहीं चलाता है। बहरहाल आधुनिक राज्यों में ताकत और अधिक बिखर गई और सहमति का क्षेत्र बड़ा होता गया। आधुनिक पूंजीवादी राज्य 'कानून का राज' कहकर शासन चलाते हैं जो वैधता का बड़ा स्रोत हो जाता है। इस वैधता के चलते आधुनिक पूंजीवादी राज्यों को सहमति के परिसर बनाने की क्षमता मिल जाती है। दूसरे शब्दों में आधुनिक पूंजीवादी राज्य 'वर्चस्व' के जरिए शासन चलाते हैं जो सहमति और ताकत का संश्रय है। ऐसे वर्चस्वशाली राज्य के विरुद्ध, जिसमें समाज का बड़ा हिस्सा राज्य के पीछे खड़ा होता है, हिंसक रूप से उखाड़ फेंकने की रणनीति (जैसा जार के रूस में हुआ) संभव नहीं होगी। इसकी बजाए ऐसी स्थितियों में 'मोर्चेबंदी का युद्ध' पर चलना अधिक उपयोगी होगा यानी छोटी छोटी जीतों के लिए विभिन्न चरणों में संचालित टुकड़ा टुकड़ा लड़ाई जिसे इकट्ठा करके बड़ी सफलता में बदला जा सके। ग्राम्शी इसे 'खाइयों की लड़ाई' भी कहते थे। मोर्चेबंदी के युद्ध के लिए अनुकूल स्थिति होती है जब 'मुट्टी भर उत्पीड़कों के सम्मुख विशाल जन समुदाय में भौतिक असहायता की चेतना हो'। यह दीर्घकालीन संघर्ष होगा जिसमें शुरुआत तो असंतुलन से होगी, जिसमें शत्रु का पलड़ा भारी होगा। लेकिन मोर्चेबंदी के युद्ध की रणनीति इस स्थिति को विभिन्न चरणों में बदल सकेगी।

मजेदार बात यह है कि हालांकि ग्राम्शी ने मोर्चेबंदी के युद्ध की रणनीति को लोकतांत्रिक पूंजीवादी राज्यों के लिए प्रभावी बताया था लेकिन वे यह देखने में सफल रहे कि यह रणनीति भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में लागू हो रही है। हालांकि वे जेल में थे और बाहरी दुनिया के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती रही होगी फिर भी उन्होंने सीमित तौर पर ही सही गांधी के नेतृत्व में चले संघर्ष के कुछ विशेष पहलुओं पर ध्यान दिया। अपनी जेल डायरी में ग्राम्शी ने लिखा:

'अंग्रेजों के विरुद्ध भारत के राजनीतिक संघर्ष में लड़ाई के तीन रूप हैं: चलायमान युद्ध, मोर्चेबंदी का युद्ध और भूमिगत युद्ध। गांधी का निष्क्रिय प्रतिरोध मोर्चेबंदी का युद्ध है जो कभी चलायमान युद्ध में तो कभी भूमिगत युद्ध में बदल जाता है। बहिष्कार मोर्चेबंदी के युद्ध का रूप है, हड़ताल चलायमान युद्ध का तो हथियारों तथा योद्धा सैनिकों की तैयारी भूमिगत युद्ध का रूप है।'

राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति के बारे में हमारे इस पाठ के लिए ग्राम्शी के चिंतन की क्या प्रासंगिकता है? उनके दिमाग में राजसत्ता के दो रूप थे— राज्य का सर्वसत्तावादी रूप जिसमें राज्य के भीतर सीधे सत्ता संकेंद्रित होती है और लोकतांत्रिक यूरोपीय समाजों का रूप जिसमें सत्ता ढेर सारी संस्थाओं में बिखरी और समाई हुई होती है। मजेदार बात यह है कि भारत का औपनिवेशिक राज्य इन दोनों रूपों से भिन्न किस्म का था।

हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन की प्रधान रणनीति को समझने के लिए ग्राम्शी ने 'मोर्चेबंदी का युद्ध' जैसी महत्वपूर्ण धारणात्मक कोटि दी है लेकिन उन्होंने साफ साफ यह नहीं बताया कि किन स्थितियों में मोर्चेबंदी का युद्ध चलाया जाता है। उन्होंने हिंसा और अहिंसा का सवाल भी नहीं उठाया। इसी सवाल पर गांधीवादी व्यवहार इस बहस को आगे बढ़ाता है। मोटे तौर पर गांधी इस मार्कसीय विचार को मानते थे कि राज्य संगठित हिंसा का उपकरण है। लेकिन वे बीसवीं सदी के राज्य को इस कदर संस्थापित मानते थे कि उसे हथियारबंद

हिंसक लड़ाई से उखाड़ना संभव नहीं है। उन्होंने लिखा: "ब्रिटिश प्रभुत्व को ब्रिटिश हथियारों के जरिए तो टिकाया ही गया है लेकिन उतना ही सहारा उसे कानूनों, पदवियों के बंटवारे, अदालतों, शिक्षा संस्थानों, वित्तीय नीति आदि से भी मिलता है।" इन सबसे सहमति के क्षेत्र निर्मित होते हैं जिनके चलते अहिंसक संघर्ष जरूरी हो जाता है।

दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार के साथ अपने टकरावों के जरिए गांधी ने इसके बारे में समझ बनानी शुरू कर दी थी। दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह के दौरान गांधी को महसूस हुआ कि इंग्लैंड में जनमत काफी मजबूत होता है जो सरकार के फैसलों को भी प्रभावित करने में सक्षम होता है। ब्रिटिश लोकतंत्र को लेकर गांधी के मन में प्रशंसा का भाव पैदा हुआ। इसी के साथ उन्हें ब्रिटिश चिंतन में मजबूत अनुदारवादी तत्व भी नजर आए। प्रथम विश्व युद्ध से कुछ समय पहले उन्होंने कहा था: "कहा जाता है कि ब्रिटिश लोग अपने लिए और दूसरों के लिए आजादी चाहते हैं..... लेकिन उनमें आत्म-छलना इतनी अधिक है जितनी अन्य किसी देश में नहीं है।" इंग्लैंड की जनता के एक और गुण की उन्होंने प्रशंसा की: "मैंने पाया है कि इंग्लैंड के लोग तर्क और अनुनय से प्रभावित होते हैं और हमेशा ऐसे ही दिखना चाहते हैं इसलिए दूसरों के मुकाबले उन्हें लज्जित करके सही काम करवाना अधिक आसान होता है।" (बी.आर. नंदा, *गांधी ऐंड हिज क्रिटीक्स*, पृष्ठ 68 पर उद्धृत)

डी.ए.लो. ने बहुत अच्छी तरह से ब्रिटिश चिंतन में ऊपरी तौर पर मौजूद अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों के बारे में बताया है। इसे उन्होंने ब्रिटिश लोगों की आत्म-छवि की मुख्य प्रवृत्तियों की अस्पष्टता कहा है। इनमें से एक प्रवृत्ति तो उदारपंथी-लोकतांत्रिक थी और दूसरी अनुदारवादी-साम्राज्यवादी थी। एक ओर ब्रिटिश लोग अपने आपको दुनिया के नेता के बतौर देखते थे जिन पर संसार में लोकतंत्र और स्वशासन को बढ़ावा देने की जिम्मेदारी है। इसी के साथ अनुदारवादी-साम्राज्यवादी आत्मछवि भी थी जिसके प्रभाव में कुछ नीति संबंधी निर्णय होते थे। इस आत्म छवि में उपनिवेशों खासकर भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का महत्वपूर्ण और अखंड घटक माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उपनिवेशों के बिना ग्रेट (बड़ा) ब्रिटेन आसानी से लिटिल (लघु) ब्रिटेन में बदल जाएगा। चिंतन की ये दोनों ही प्रवृत्तियां भारत संबंधी नीति निर्माण की ब्रिटिश सोच में मौजूद थीं। इसीलिए कभी कभी रियायत दी जाती थी (उदाहरण के लिए 1917 में स्वशासन को भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य घोषित करना और 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट में प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान करना)। लेकिन कुछ अन्य अवसरों पर अत्यंत दमनकारी कदम उठाए जाते थे (उदाहरण के लिए 1919 में जलियावाला बाग हत्याकांड और 1932 से 1942 के बीच राष्ट्रवादी आंदोलनों का दमन)।

ब्रिटिश सोच और नीति निर्माण में इस दोहरे रुख को वायसराय रिपन ने बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया जब उन्होंने कहा: "भारत सरकार के सामने चुनने के लिए दो नीतियां मौजूद हैं; एक नीति तो उन लोगों की है जिन्होंने आजाद प्रेस की स्थापना की, जिन्होंने शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिन्होंने विभिन्न रूपों में अधिकाधिक देशी लोगों को सरकारी सेवा में दाखिल किया और जिन्होंने स्वशासन के विस्तार का पक्ष लिया; दूसरी नीति उन लोगों की है जो प्रेस की आजादी से नफरत करते हैं, जो शिक्षा की प्रगति से डरते हैं और जो भारत के देशी लोगों को उनके अपने मामलात के प्रबंधन में सीमित मात्रा में भी हिस्सा देने की किसी भी कोशिश को ईर्ष्या और खतरे की निगाह से देखते हैं।" (एस आर मेहरोत्रा, *द इमर्जेंस आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस*, पृष्ठ 305-06)।

यह स्पष्ट है कि गांधी को ब्रिटिश शासन के इस पहलू की तीक्ष्ण जानकारी थी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी रणनीति को सूत्रबद्ध करने में इस जानकारी का विनियोग किया।

32.4 गांधीवादी रणनीति का निर्माण

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की गांधीवादी रणनीति किसी खाके या किसी घोषणापत्र के रूप में सूत्रबद्ध नहीं है। संघर्ष शुरू होने से पहले इसे तैयार नहीं किया गया था। तत्कालीन अनुभवों का संज्ञान लेने और एक रणनीतिक ढांचे में उसे समाहित करने की प्रक्रिया में उसका विकास हुआ। गांधी की रणनीति ब्रिटिश शासन की उनकी समझदारी और दक्षिण अफ्रीका के उनके अनुभवों पर आधारित थी। अहिंसक असहयोग की उनकी रणनीति मौजूदा राष्ट्रवादी राजनीति से उनके मोहभंग से पैदा हुई थी। उन्होंने संवैधानिक तरीकों पर आधारित भारतीय माडरेटों की राजनीति की सीमाएं समझ ली थीं। ऐसी राजनीति की अपनी सीमाएं होती हैं। रियायतों के प्रस्ताव देकर इसे आसानी से पचाया जा सकता है। ऐसी राजनीति सारतः शासकों की सदिच्छा पर आधारित होती है। ऐसी राजनीति की निष्फलता बंग भंग विरोधी संघर्ष के दौरान जाहिर हो गई थी जिसमें 1903 से 1905 तक माडरेट नेतागण अंग्रेजों से बंग भंग न करने की अपील करते रहे। उनमें से कुछ लोगों को भोला विश्वास था कि अगर अंग्रेजों को समझ में आ जाएगा कि विभाजन की योजना के विरुद्ध प्रचंड बहुमत है तो वे बात समझेंगे और प्रस्तावित विभाजन को लागू नहीं करेंगे। बहरहाल ऐसा कुछ हुआ नहीं और माडरेट नेताओं को खुद ही अपनी राजनीतिक तकनीक की व्यर्थता समझ में आने लगी। अन्य विकल्प भूमिगत राजनीतिक हिंसा थी। इस राजनीति का जन्म स्वदेशी आंदोलन से हुआ जब बंगाल में कई नौजवान स्वदेशी आंदोलन की असफलता से कुंठित होकर राजनीतिक हिंसा के विकल्प की तलाश करने लगे। भूमिगत हिंसा की राजनीति का प्रयोग बंगाल में आजमाया गया और उसका दमन अंग्रेजों ने कर दिया।

गांधी ने इन दोनों तकनीकों की व्यर्थता देखी। इसलिए वे दोनों अतियों का ऐसा विकल्प खोज रहे थे जो दोनों तरीकों से पैदा होने वाली दिक्कतों से बचा सके। अहिंसक असहयोग में उनकी खोज पूरी हुई। उनका असहयोग माडरेटों की तकनीक के विरुद्ध लक्षित था जो अप्रभावी तो हो ही चुके थे उनके अनुपालन में समाहित हो जाने का खतरा भी था। और उनकी अहिंसा हिंसक क्रांतिकारियों की पद्धति के विरुद्ध लक्षित थी जो बहुत समय तक नहीं चल सकती थी और उसका दमन लाजिमी था। बहरहाल जब हम अहिंसा को संघर्ष की उनकी रणनीति के अंग के बतौर समझते हैं तो भी हमें अहिंसा के प्रति उनकी संपूर्ण और अविचल निष्ठा को अनदेखा नहीं करना चाहिए। आंदोलन के लिए अहिंसा प्रभावी रणनीति थी लेकिन गांधी के लिए इसका महत्व केवल रणनीतिक ही नहीं था। इसमें उनकी पूर्ण निष्ठा थी और वे इसकी नैतिक श्रेष्ठता पर विश्वास करते थे।

गांधीवादी रणनीति के निर्माण पर विचार करते हुए 1908-14 के दौरान दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा वहां की भारतीय आबादी के विरुद्ध किए जाने वाले भेदभाव से लड़ने के लिए गांधी ने जो संघर्ष किया उसका ध्यान रखना होगा। मजेदार बात है कि गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में उन सभी तकनीकों का इस्तेमाल किया था जिन्हें बाद में उन्होंने भारत में आजमाया। गांधी ने 1904 में प्रिटोरिया में "इंटरनेशनल प्रिंटिंग प्रेस" नामक प्रेस की स्थापना की थी। जोहानेसबर्ग में उन्होंने 'इंडियन ओपिनियन' अखबार निकाला और भारत में आकर 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' शुरू किया। अहमदाबाद और वर्धा में आश्रम स्थापित करने से पहले वे दक्षिण अफ्रीका में फिनीक्स और तालस्ताय आश्रम चला चुके थे। दक्षिण अफ्रीका

में अपने सत्याग्रह के दौरान गांधी असहयोग, बहिष्कार कर चुके थे और जैसे 1930 में अपने नमक सत्याग्रह के दौरान उन्होंने मशहूर डांडी मार्च किया वैसे ही नटाल से ट्रांसवाल तक मार्च भी किया था। दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ समझौता वार्ता की इच्छा भी उन्होंने जाहिर की थी। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने केवल उपवास का हथियार नहीं आजमाया था। उपवास को गांधी ने राजनीतिक अस्त्र की तरह पहली बार 1918 में अहमदाबाद मिल मजदूरों की हड़ताल का नेतृत्व करते हुए आजमाया।

भारत लौटने के बाद गांधी ने 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका' नामक महत्वपूर्ण किताब लिखी जिसमें उन्होंने सत्याग्रह की अपनी तकनीक की बुनियादी रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने किसी भी उत्पीड़न के विरुद्ध सत्याग्रह को प्रभावी तकनीक बताया। 1924 में अपनी पत्रिका यंग इंडिया के एक लेख में सत्याग्रह को निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया:

'असहयोग और सविनय अवज्ञा एक ही वृक्ष— सत्याग्रह— की दो शाखाएं हैं। यह मेरा कल्पद्रुम (हिंदू मिथक के अनुसार सारी इच्छाओं को पूरा करने वाला पवित्र वृक्ष) है, मेरा जम जम (इस्लामी मिथक के अनुसार एक दैवी पात्र) है, सब कुछ देने वाला है। सत्य की खोज सत्याग्रह है; और सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा वह प्रकाश है जो उस सत्य को उजागर कर देता है। मेरे लिए स्वराज उस सत्य का अंग है। इस सत्याग्रह ने मुझे दक्षिण अफ्रीका, खेड़ा या चंपारण और तमाम अन्य मामलों में मुझे धोखा नहीं दिया है। तमाम हिंसा या नफरत इससे बाहर है..... मैंने बार बार कहा है कि सत्याग्रह कभी असफल नहीं होता और एक पूर्ण सत्याग्रही काफी है सत्य की रक्षा के लिए..... सत्याग्रह अंतरात्मा का धर्म है। यह हम सबमें छिपा हुआ है। स्वराज की तरह ही यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।'

संक्षेप में इस अनुभाग में हमने जाना कि किसी भी समय गांधीवादी रणनीति का कोई भी पूरी तरह से बना बनाया खाका नहीं था। यह लगातार विकसित होती रही और इस क्रम में नए तत्व उसमें जुड़ते गए। उनकी रणनीति का किस प्रक्रिया में निर्माण हो रहा था इसकी समझदारी के लिए दो कारकों— तत्कालीन समूची राष्ट्रवादी राजनीति से उनका असंतोष और दक्षिण अफ्रीका के अनुभव को ध्यान में रखना होगा।

32.5 गांधीवादी रणनीति का सार

मुख्य तौर पर गांधी की सरपरस्ती में राष्ट्रीय आंदोलन को स्पष्ट और दीर्घकालीन रणनीतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट था क्योंकि इसमें कोई अस्पष्टता और भ्रम नहीं था। यह दीर्घकालीन था क्योंकि यह किसी एक घटना या कार्यवाही तक सीमित नहीं था। सभी अलग अलग गतिविधियां एक साझा रणनीति के जरिए आपस में जुड़ी हुई थीं। रणनीति यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ न फेंका जाए बल्कि ऐसे हालात पैदा कर दिए जाएं कि भारत में रहना उनके लिए असंभव हो जाए। दूसरे शब्दों में यह रणनीति साम्राज्यवाद को एक ही धक्के में हटा देने की नहीं थी बल्कि विभिन्न चरणों में संचालित दीर्घकालीन संघर्ष के जरिए उन्हें हटाना था। बिपन चंद्रा के एक उद्धरण से हम गांधीवादी रणनीति का सार बेहतर समझ सकते हैं:

'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का बुनियादी रणनीतिक परिप्रेक्ष्य दीर्घकालीन वर्चस्व की लड़ाई या ग्राम्शीवादी शब्दावली में मोर्चेबंदी का युद्ध छेड़ना था— ऐसी लड़ाई जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के दिलो-दिमाग को जीतना था, विभिन्न रास्तों से लोगों के बीच अपना प्रभाव लगातार बढ़ाने के लिए अलग अलग आंदोलनों और दौरों या चरणों में यह लड़ाई चलनी थी। इस रणनीति में दो बुनियादी बातों पर जोर दिया गया। इसे वर्चस्वशील होना था और

गैर कानूनी जन संघर्ष तथा कानून की चारदीवारी के भीतर विराम के दौर या ग्राप्सी की भाषा में चलायमान युद्ध और मोर्चेबंदी की लड़ाई के दौर इसमें एक दूसरे के बाद आने थे। लेकिन इन दोनों ही चरणों का लक्ष्य जनता के बीच राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव का विस्तार करना था। बुनियादी रणनीति एक ही रही लेकिन विभिन्न दौरों में समय समय पर कार्यनीति में बदलाव आता रहा। इसके अलावे यह क्रमिक सुधार या उपनिवेशवाद के साथ 'समझौता' या इसमें समाहित होने की चाहत या इसके साथ सत्ता और विशेषाधिकार की 'भागीदारी' की रणनीति नहीं थी। यह सक्रिय संघर्ष की रणनीति थी जिसमें औपनिवेशिक राज्य से सत्ता छीन लेने के मकसद से वर्चस्वशाली शक्ति के इलाके बनाने थे। हालांकि इस रणनीति में न केवल सशस्त्र संघर्ष के रास्ते के विकल्प का प्रतिनिधित्व था बल्कि बहुत सारे मामलों में यह लेनिनवादी रणनीतिक तरीके का भी निषेध करती थी फिर भी लेनिनवादी तरीके से रणनीतिक लक्ष्य के मामले में इसकी साझेदारी थी क्योंकि राजसत्ता पर कब्जा करना इसका भी लक्ष्य था। (बिपन चंद्रा, *इंडियन नेशनल मूवमेंट: द लांग-टर्म डायनेमिक्स*, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ 40)।

इस रणनीति पर आचरण करने की एक अनिवार्य पूर्वशर्त थी प्रतिपक्ष के स्वभाव का पता लगाना। गांधी समझते थे कि भारत पर अंग्रेज केवल ताकत और उत्पीड़न के जरिए शासन नहीं कर रहे हैं। वे भारतीय जनता के दिलो-दिमाग पर कब्जा करने की कोशिश करके शासन कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करके शासन चलाने का प्रयास कर रहे हैं। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिका थी अंग्रेजों द्वारा स्थापित वर्चस्व का क्षरण करने और राष्ट्रीय आंदोलन का प्रति वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करना तथा जनता के दिलो-दिमाग को जीतने के लिए संघर्ष चलाना।

अंग्रेजों ने अपना वर्चस्व दो मुख्य तरीकों से स्थापित किया था— ब्रिटिश शासन की सद्भावना को साबित करके और इसकी अजेयता स्थापित करके। राष्ट्रीय आंदोलन का समूचा दौर— शुरुआत से लेकर गांधीवादी चरण तक— मूल तौर पर ब्रिटिश सद्भावना और ब्रिटिश अजेयता के जुड़वां धारणाओं को लगातार ध्वस्त करने की कोशिश था। शुरुआती राष्ट्रवादी नेतृत्व ने ब्रिटिश सद्भावना की धारणा का मुकाबला आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार से करने की कोशिश की। इस विचार के मुताबिक ब्रिटिश शासन कुल मिलाकर भारतीय जनता के आर्थिक हितों के विरुद्ध था। गांधीवादी चरण में आंदोलन ने इस विचार से आगे बढ़कर ब्रिटिश शासन की अजेयता को उसके विरुद्ध सफल संघर्ष संचालित करके क्षरित करने की कोशिश की। निम्नांकित बातों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की गांधीवादी रणनीति के कुछ आवश्यक घटकों के बतौर समझा जा सकता है:

- शत्रु की प्रकृति की समुचित और वैज्ञानिक समझदारी हासिल करने पर यह आधारित थी। गांधी के दिमाग में यह स्पष्ट था कि सभी स्थितियों में सभी रणनीतियां प्रभावी नहीं होतीं। उन्हें समझ में आया कि भारत में औपनिवेशिक राज्य जर्मनी के हिटलर या रूस के जार से भिन्न है। यह शासन अर्ध-सत्तावादी या एक तरह का कानूनी सत्तावादी शासन है। ब्रिटिश शासन शक्ति पर तो आधारित है लेकिन कुछ नागरिक संस्थाओं के निर्माण पर भी आधारित है। अंग्रेजों ने संवैधानिक अवकाश उपलब्ध कराया और कभी कभी रियायतें देने को भी तैयार थे। इसके अलावा यह ऐसी सरकार थी जो ब्रिटिश संसद और इंग्लैंड के जागरूक जनमत के सामने जवाबदेह थी। ब्रिटिश शासन की इस प्रकृति ने और गांधी की इसकी समझ ने इसके विरोध की विशिष्ट गांधीवादी रणनीति के निर्माण में कुछ भूमिका निभाई। गांधी के दिमाग में यह बात स्पष्ट थी कि सभी स्थितियों में प्रति-वर्चस्व बनाने की यही रणनीति समान रूप से प्रभावी नहीं भी हो सकती है और रणनीति को संदर्भ के मुताबिक होना होगा।

- संघर्ष जनता की सहायता से चलेगा। आंदोलन की मुख्य ताकत बौद्धिकों या किसी विशेष वर्ग या प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं से नहीं, बल्कि जनता से आएगी। इसके लिए वर्ग टकराव की जगह वर्ग समायोजन की राजनीति करने की जरूरत पड़ी। एक ही संघर्ष में शामिल विरोधी वर्गों के हितों का निपटारा अक्सर आसान नहीं होता था। आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय हितों को वर्गीय हितों के साथ मिलाना अक्सर बेहद चुनौती भरा काम हो जाता था। किसानों और मजदूरों समेत समस्त जनता को साम्राज्यवाद—विरोधी मोर्चे पर गोलबंद करना था।
- जनता को किसी मजबूत नैतिक आधार पर गोलबंद करना था। जन गोलबंदी के अभियानों में नस्ली या धार्मिक मुद्दों से परहेज किया गया। खिलाफत आंदोलन नियम नहीं, अपवाद था। दो महत्वपूर्ण नैतिक मुद्दे उठाए गए और वे थे 1919 में जलियांवाला बाग हत्याकांड और 1930 में नमक सत्याग्रह। महत्वपूर्ण नैतिक मुद्दों को उठाने और नस्ली या धार्मिक मुद्दों से परहेज करने का चुनाव बेहद महत्वपूर्ण था। इससे सुनिश्चित हो गया कि आंदोलन ब्रिटिश जनता के विरुद्ध जवाबी नस्लवाद में नहीं पतित होगा। आंदोलन को ब्रिटिश समाज में भी काफी सहयोग मिला और वहां की मीडिया ने भी भारत के हितों को जगह दी। धार्मिक मुद्दों से परहेज करना इसलिए भी जरूरी था ताकि आंदोलन एक धार्मिक समुदाय के विरुद्ध दूसरे धार्मिक शिकायतों को ही न उठाने लगे।
- आंदोलन लगातार चलने वाला संघर्ष था लेकिन इसे विभिन्न चरणों में लड़ा जाना था। संघर्ष और शांति के चरण एक के बाद एक आने थे। 1922 में असहयोग आंदोलन को वापस लिया गया और इसके बाद लंबी अवधि तक रचनात्मक कार्यक्रम चला। इस दौरान खादी और चरखा को प्रोत्साहित किया गया, ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया, वैकल्पिक राष्ट्रीय शिक्षा तैयार की गई, सांप्रदायिक एकता और सौहार्द के लिए काम हुआ, अस्पृश्यता से लड़ाई लड़ी गई तथा विदेशी वस्तुओं और शराब का बहिष्कार किया गया। इसी तरह सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के बाद संवैधानिक दौर चला जिसमें कांग्रेस ने प्रांतीय विधायिका का चुनाव लड़ा और सात प्रांतों में सरकार बनाई। इस प्रकार सरकार के साथ खुले टकराव के दौरों के बाद मौजूदा कानून और संवैधानिक ढांचे के भीतर काम करने के चरण आते रहे।
- संघर्ष को विभिन्न चरणों में चलाने की बड़ी वजह गांधी का यह अनुभव था कि जनता के पास ऊर्जा का अक्षय स्रोत नहीं है और संघर्ष के सक्रिय चरण के बाद उन्हें विराम की जरूरत पड़ती है। बलिदान (अन्य चीजों के साथ भारी जुर्माना, कैद, नौकरी छूटना, जमीन से बेदखली) की उनकी क्षमता सीमित होती है और उसकी परवाह न करना ठीक नहीं। बिपन चंद्रा लिखते हैं: "..... अपने स्वभाव से ही कोई जन आंदोलन अनंत काल तक या लंबे समय तक चलाया या टिकाया नहीं जा सकता। किसी भी जन आंदोलन में देर सबेर उतार आता है। कोई भी जन आंदोलन स्थायी रूप से ज्वार की दशा में नहीं रह सकता। जन आंदोलनों का जीवन छोटा होता है, आराम और सुदृढ़ीकरण का 'सांस लेने' का समय बीच में आना चाहिए ताकि आंदोलन सुदृढ़ हो सके, स्वास्थ्य लाभ कर संघर्ष के अगले दौर के लिए बल अर्जित कर सके।" (बिपन चंद्रा, *इंडियन नेशनल मूवमेंट*, पृष्ठ 51)। बहरहाल संघर्ष को विभिन्न चरणों में चलाया गया इस तथ्य का यह मतलब नहीं कि इन चरणों के बीच टूटन थी या आंदोलन के बड़े लक्ष्य एक चरण से दूसरे चरण तक नहीं ले जाए जा सके। खुद गांधी ने कई बार इशारा किया कि मूलतः यह एक ही आंदोलन था और तब तक चलना है जब तक अंतिम लक्ष्य न हासिल हो जाए। सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के बाद उन्होंने

लिखा: ".....सविनय अवज्ञा के स्थगन का अर्थ लड़ाई का स्थगन नहीं है। लड़ाई तो तभी खत्म होगी जब भारत को उसका ही बनाया हुआ संविधान मिल जाए।"

- रणनीति का यह भी एक पहलू था कि अंग्रेजी राज द्वारा छोड़ी गई हर जगह पर कब्जा जमाया जाए। इस तरह से सत्ता पर दावा एकबारगी नहीं, बल्कि टुकड़े टुकड़े में होना था। इसलिए 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के द्वैध शासन के जरिए या 1935 के ऐक्ट के जरिए प्रांतीय स्वायत्तता मिलने पर कितना भी धीरे धीरे और सीमित तौर पर जब संवैधानिक क्षेत्र खुला तो आंदोलन ने उसका इस्तेमाल किया। इसके पीछे राष्ट्रीय आंदोलन को सामाजिक-राजनीतिक जीवन के विविध क्षेत्रों तक फैला देना था। राष्ट्रीय आंदोलन जिस तरह गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम के जरिए गांवों में पहुंचा उसी तरह इसकी संवैधानिक गतिविधियों के जरिए विधायी निकायों तक पहुंचा। ये सभी विविध प्रकार की गतिविधियां एक साझा रणनीति के जरिए एक दूसरे से जुड़ी हुई थीं।
- अंतिम बात कि अहिंसा पर जोर आंदोलन की रणनीति का बहुत केंद्रीय तत्व था। इसे जरूरी समझा गया कि कार्यकर्ता आधारित भूमिगत आंदोलन के विपरीत जनता का दीर्घकालीन संघर्ष अहिंसक होगा। किसी भी हिंसक संघर्ष में जन भागीदारी का मानव मूल्य बेहद अधिक हो सकता है। इसके अलावा हिंसक आंदोलन के लिए टिकाऊ आधार पर जन गोलबंदी मुश्किल होगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के कारण आंदोलन को व्यापक समर्थन और जन आधार हासिल हो सका। इसलिए यह स्पष्ट होना चाहिए कि आंदोलन के लिए यह रणनीतिक जरूरत थी। मार्च 1930 में डांडी मार्च शुरू करने से पहले अपने अनुयायियों को गांधी ने खुद अहिंसा की रणनीतिक प्रासंगिकता समझाई थी:

“कुछ ही दिनों में लड़ाई शुरू होने वाली है फिर भी आप सब बिना डरे कैसे आ गए? मुझे नहीं लगता है कि अगर आपको राइफल की गोली या बम का सामना करना होता तो आप यहां आते। लेकिन आपको राइफल की गोली या बम से डर नहीं लगता। क्यों? मान लीजिए मैं घोषणा करता कि मैं हिंसक अभियान चलाना चाहता हूँ जरूरी नहीं कि राइफलधारी लोगों के साथ बल्कि डंडे और पत्थर के ही साथ तो आपको लगता है कि सरकार ने अब तक मुझे आजाद छोड़ा होता? मुझे आप इतिहास में कोई एक उदाहरण दिखा सकते हैं (चाहे इंग्लैंड हो या अमेरिका या रूस) जहां एक दिन के लिए भी सरकार की हिंसक अवज्ञा बरदाश्त की गई हो? लेकिन यहां पर सरकार परेशान और उलझन में है।” (मृदुला मुखर्जी, ‘भूमिका’, सुधीर घोष, गांधी’ज एमिसरी, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ xix-xx पर उद्धृत)

32.6 गांधीवादी रणनीति: कुछ सामान्य बातें

जब हम केंद्रीकृत रणनीतिक ढांचे की मौजूदगी देखने लगते हैं तो फिर राष्ट्रीय आंदोलन की अलग अलग किस्म की गतिविधियों के बीच संपर्क भी पहचानने लगते हैं। रणनीति पर ध्यान देने से आंदोलन के कुछ विवादास्पद पहलुओं को भी हम नए परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। खासकर गांधी द्वारा लिए गए दो बड़े राजनीतिक फैसलों को लेकर उनके समय में भी और बाद के इतिहास लेखन में भी काफी बहस हुई है— एक तो 1922 में चौरी चौरा में हिंसा के बाद आंदोलन की वापसी और दूसरा 1931 में गांधी-इरविन समझौते पर हस्ताक्षर।

चौरी चौरा की हिंसा के बाद असहयोग आंदोलन की वापसी को विभिन्न तरीकों से समझा गया है। अपने जमाने में इसे हिंसा और अहिंसा के बीच राजनीतिक चुनाव का मामला माना

गया। इस सवाल पर गांधी के समझौताविहीन रुख को देखते हुए आंदोलन की वापसी के गांधी के फैसले की जड़ में इसे ही समझा गया। प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार रजनी पाम दत्त ने इस सवाल को अलग तरीके से देखा। उनकी निगाह में इससे आंदोलन के 'बुर्जुआ' चरित्र का संकेत मिला और उसकी पुष्टि हुई क्योंकि गांधी आंदोलन को नियंत्रण से बाहर और संपत्तिशाली वर्गों के विरुद्ध जाने देना नहीं चाहते थे। सुमित सरकार ने अपने लेख "द लाजिक आफ गांधियन नेशनलिज्म" में गांधी-इरविन समझौते को आंदोलन के वर्ग चरित्र की याद दिलाकर व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार समझौते पर हस्ताक्षर हुए क्योंकि पूंजीपति वर्ग द्वारा काफी दबाव डाला जा रहा था और समझौते का मकसद पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करना था। आंदोलन के नियंत्रण से बाहर निकलने के डर और 'नियंत्रित जन आंदोलन' (स्वतः स्फूर्त जन आंदोलन के विपरीत) के लिए प्राथमिकता को नेतृत्व द्वारा लिए गए कई फैसलों के पीछे का मुख्य कारण माना गया। इसके बाद इन व्याख्याओं का सामान्यीकरण करके राष्ट्रीय आंदोलन की एक समग्र तस्वीर बनाई गई जो प्रभावी पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण में कथित तौर पर चलाया गया।

बहरहाल अगर हम गांधी द्वारा लिए गए विभिन्न फैसलों के पीछे के महत्वपूर्ण तत्व के बतौर 'रणनीति' की ओर ध्यान दें तो वैकल्पिक व्याख्याएँ और सामान्यीकरण मिल सकते हैं। आंदोलन के एक चरण की वापसी को गांधीवादी रणनीति के अभिन्न अंग के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सुलह या समझौते की संभावना के लिए लगातार अवकाश तलाशना भी उसी रणनीति का एक अंग था। जैसा कि गांधी ने खुद कहा: "किसी भी ईमानदार सत्याग्रही को सम्मानजनक समझौते के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।" सुलह और समझौते हमेशा ही गांधीवादी रणनीति के अनिवार्य घटक रहे।

चौरी चौरा की घटना आखिरी बार है जब गांधी ने हिंसा को प्रमुख कारण बताते हुए किसी आंदोलन को वापस लिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान शोलापुर और पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में भी हिंसा की घटनाएँ हुईं। लेकिन गांधी ने संघर्ष को वापस नहीं लिया। भारत छोड़ो आंदोलन तो पूरा ही हिंसक हो गया। लेकिन गांधी ने इस हिंसा की निंदा करने से इनकार कर दिया यह कहकर कि यह हिंसा औपनिवेशिक राज्य द्वारा थोपी गई बहुत बड़ी हिंसा की प्रतिक्रिया है।

बहरहाल आंदोलन के महत्वपूर्ण घटक के रूप में 'रणनीति' पर ध्यान केंद्रित करते हुए जरूरी है कि इसे स्थिर या तयशुदा न समझा जाए। रणनीति का कोई बना बनाया खाका मौजूद नहीं था। किसी भी समय गांधी ने इसे औपचारिक रूप से सूत्रबद्ध नहीं किया। असल में तो काम करने के दौरान रणनीति विकसित हुई। इस मामले में आंदोलन के नेतागण एक साथ ही शिक्षक और शिक्षार्थी थे। वे संघर्ष के भागीदारों को शिक्षित करते हुए खुद भी सीख रहे थे। नेता लगातार प्रयोग कर रहे थे, विकसित हो रहे थे, बदल रहे थे और पुराने अनुभवों से सीख रहे थे। रणनीति के आधार स्तम्भ पूर्वनिश्चित सूत्रबद्ध सिद्धांत नहीं बल्कि ये सब चीजें थीं।

शायद गांधीवादी रणनीति का सार यह था कि आखिरी लक्ष्य— ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना— हथौड़े की एक चोट से नहीं बल्कि क्रमिक रूप से और ऐसे चरणबद्ध तरीके से हासिल किया जाएगा कि स्वतंत्रता का वास्तविक आगमन कोई नाटकीय और प्रदर्शनीय घटना न प्रतीत हो। गांधीवादी रणनीति के इस पहलू को तत्कालीन अंग्रेज इतिहासकार आर्नोल्ड टायनबी ने खूबसूरती के साथ व्यक्त किया: "उन्होंने [गांधी ने] अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना असंभव बना दिया लेकिन साथ ही उन्होंने हमारे लिए बिना विद्वेष के और बिना बेइज्जत हुए भारत को छोड़ना संभव कर दिया।..... इस

[साम्राज्यवादी] झंझट से बाहर निकलने में अंग्रेजों की मदद करके गांधी ने उनकी बहुत बड़ी सेवा की क्योंकि साम्राज्य हासिल करना तो आसान है लेकिन उससे बाहर निकलना बहुत कठिन होता है।" (बी आर नंदा, *गांधी ऐंड हिज क्रिटिक्स*, पृष्ठ 71 पर उद्धृत)

32.7 वैकल्पिक रणनीतिक दृष्टियाँ

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में गांधी की रणनीति ही प्रमुख थी; लेकिन वही एकमात्र रणनीति नहीं थी। आंदोलन पर गांधी के नेतृत्व के दौरान इस बारे में उनके विरोधी और प्रतिद्वंद्वी विचार भी थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कैसे संघर्ष किया जाए।

मुख्यधारा की गांधीवादी रणनीति को एक बड़ी चुनौती खासकर 1930 दशक में जवाहरलाल नेहरू से मिली। इस दौरान गांधी की राजनीति से नेहरू का अधिकाधिक मोहभंग होता जा रहा था और वे गांधी से दूर भी जा रहे थे। समाजवादी विचारों से नेहरू बहुत ज्यादा प्रेरित हो रहे थे और उन्हें विश्वास हो चला था कि समूची दुनिया के लिए भविष्य का चुनाव "साम्यवाद के किसी रूप और फासीवाद के किसी रूप" के बीच ही है। वैश्विक स्तर पर साम्यवाद की वांछनीयता का उन्हें भरोसा था। बहरहाल राष्ट्रीय स्तर पर समाजवाद के उभार के लिए वे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को महत्वपूर्ण पूर्वशर्त के बतौर देखते थे। नेहरू देश भर घूमे, कई लोगों से मिले और उन्हें यकीन हो गया कि 1857 के बाद भारतीय जनता में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध ऐसी कड़वाहट और इससे छुटकारा पाने की ऐसी आवेगपूर्ण इच्छा कभी नहीं थी। नेहरू के लिए यह क्रांतिकारी क्षण था और उन्हें लगा कि इस क्रांतिकारी अवसर को 1933-34 के आसपास गांधी द्वारा ग्रामोद्धार और हरिजन आंदोलन पर ध्यान केंद्रित करके भटकाया जा रहा है। नेहरू को यकीन था कि बड़े सामाजिक रूपांतरण का समय आ पहुंचा है। ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंका जा सकता है; रजवाड़ों की तानाशाही व्यवस्था खत्म हो जाएगी भू-स्वामित्व की प्रणाली बदल जाएगी और उद्योगों को सार्वजनिक नियंत्रण में ले लिया जाएगा। यह सब कुछ थोड़े समय में ही हासिल किया जा सकता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खात्मे से चिनगारी भड़केगी और अन्य चीजें डोमिनो प्रभाव से घटित होंगी। यह पूरी तरह से अलग परिप्रेक्ष्य था और इसके चलते गांधी से राजनीतिक अलगाव के मुहाने पर नेहरू पहुंच गए।

संक्षेप में नेहरू की वैकल्पिक रणनीति में निम्नांकित बातें शामिल थीं: साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष ऐसी अवस्था में पहुंच चुका है कि साम्राज्यवाद के साथ उसके खात्मे तक समझौताविहीन और सतत टकराव चलाया जा सकता है। इसमें कोई समझौता या पीछे हटने की बात नहीं होगी। संवैधानिकता या गांधीवादी रचनात्मक काम की ओर पलटना और बीच का रास्ता नहीं होगा। इसीलिए नेहरू 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के तहत प्रांतों में सरकार बनाने वाले कांग्रेसजन के पूरी तरह विरोधी थे। इसे वे साम्राज्यवाद के साथ समझौता समझते थे। बुनियादी तौर पर नेहरू की रणनीति सत्ता दखल की थी अलबत्ता अहिंसक जन संघर्ष के जरिए।

लेकिन नेहरू जानते थे कि गांधी उनकी विश्वदृष्टि से सहमत नहीं हैं और जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि गांधी को नेहरू की अपनी स्थिति से सहमत करना कठिन होगा। कांग्रेस पर गांधी के प्रभाव का उनका आकलन भी ठीक नहीं था। नेहरू को लग गया कि अपनी नई विश्वदृष्टि से कांग्रेस को वे सहमत नहीं करा सकेंगे। इसलिए अपने क्रांतिकारी प्रकल्प को आगे ले जाने के लिए उन्हें कांग्रेस छोड़ना होगा। इस प्रकल्प में नेहरू को कुछ सोशलिस्ट कांग्रेस नेताओं का समर्थन हासिल था जिन्होंने 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी एस पी) का गठन किया था। लेकिन नेहरू को लगा कि इस क्रांतिकारी प्रकल्प के

अतिरिक्त कांग्रेस सोशलिस्टों के साथ उनका बहुत कुछ साझा नहीं है। इस तरह नेहरू की वैकल्पिक रणनीति केवल कागज पर तथा नेहरू के चिंतन और लेखन में रह गई। सामाजिक ताकत में इसका रूपांतरण नहीं हो सका। नेहरू के पास सांगठनिक संसाधन नहीं था और वे कांग्रेस छोड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि वह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का चालक थी। नेहरू को यह भी लगा कि उनके द्वारा अपनी वैकल्पिक रणनीति पर जोर देने से कांग्रेस और आंदोलन में विभाजन हो सकता है। और नेहरू साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों में विभाजन के लिए तैयार नहीं थे। 1930 दशक के पूर्वार्ध में अपनी वैकल्पिक रणनीति पर विचार करने के बाद नेहरू ने 1937 के बाद गांधीवादी रणनीति को मंजूर जैसा कर लिया और कमोबेश गांधी द्वारा अनुबद्ध शर्तों पर संघर्ष करने के लिए राजी हो गए।

कुछ अन्य अवसर भी आए जब गांधी के नेतृत्व और रणनीति के लिए चुनौतियां पेश की गईं। उदाहरण के लिए 1938 और 1939 में कांग्रेस अध्यक्ष के बतौर सुभाष चंद्र बोस ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का गतिपथ बदलने की कोशिश की। इसके बाद जो टकराव हुआ उसका परिणाम निकला कांग्रेस से बोस का अलगाव और कांग्रेस से उनका निष्काषण तथा उनके द्वारा अलग 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना। लेकिन बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि प्रभावी गांधीवादी रणनीति को चुनौती देने की सबसे गंभीर कोशिश नेहरू ने की थी। लेकिन जैसा हुआ कि कांग्रेस की रणनीति में कोई बड़ी टूट फूट नहीं आई और राष्ट्रीय आंदोलन गांधी के नेतृत्व में उनकी रणनीति का अनुसरण करते हुए लड़ा जाता रहा।

32.8 सारांश

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन, खासकर गांधीवादी चरण में, एक स्पष्ट, दीर्घकालीन रणनीति की सहायता से लड़ा गया। इस रणनीति के निर्माता गांधी थे। आंदोलन की विभिन्न गतिविधियों और कार्यनीतियों के दौरान जो भी बदलाव दिखाई पड़ते हैं वे मोटे तौर पर उसी रणनीति के मातहत थे। यह रणनीति पहले से मौजूद कोई चीज नहीं थी। न ही इसका तैयारशुदा कोई खाका था। अनुभवों के साथ यह विकसित और निर्मित होती गई। गांधी के किसी एक लेखन में यह सूत्रबद्ध भी नहीं मिलेगी। फिर भी इस बात के संकेत मिलते हैं (गांधी के लेखन, उनकी गतिविधियों और उनके कुछ समकालीनों के लेखन में भी) कि गांधी रणनीति की एक तीक्ष्ण समझ के साथ आंदोलन चला रहे थे।

यह रणनीति साम्राज्यवाद को सीधे उखाड़ फेंकने की नहीं थी, टुकड़े टुकड़े दीर्घकालीन संघर्ष की थी जिसे कई चरणों में संचालित किया गया। इस रणनीति का मुख्य मकसद ऐसे हालात पैदा कर देना था जिसमें अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना असंभव हो जाए और वे देश छोड़ने के लिए मजबूर हो जाएं। यह रणनीति आंशिक रूप से भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की प्रकृति और आंदोलन के नेतृत्व द्वारा उस प्रकृति की तीक्ष्ण समझ का परिणाम थी। भारत पर अंग्रेजों ने अपना शासन पशुबल के सहारे नहीं, बल्कि अर्ध-सत्तावादी तरीके से चलाया जिसमें उन्होंने भारतीयों में समर्थन का एक आधार बनाया और उनके दिलो-दिमाग तक पहुंचने की कोशिश की। इसके विरोध में राष्ट्रवादी आंदोलन की रणनीति औपनिवेशिक शासकों के वर्चस्व को क्षरित करना और इसकी जगह पर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति-वर्चस्व की स्थापना की कोशिश करना था।

अहिंसक संघर्ष, व्यापक जनता की सक्रिय भागीदारी, विभिन्न चरणों में संघर्ष का संचालन, आंदोलन के चरण के बाद रचनात्मक कार्यक्रम के चरण, सुलह-समझौते के लिए तैयार रहना (जैसे 1931 में गांधी-इरविन पैक्ट), अंग्रेजों द्वारा निर्मित रचनात्मक भी संवैधानिक स्थान

का उपयोग, नए नए समूहों और क्षेत्रों तक राष्ट्रीय आंदोलन के घेरे को फैलाना— ये गांधीवादी रणनीति के कुछ बुनियादी घटक थे।

गांधी के इस रणनीतिक ढांचे को सबसे गंभीर चुनौती 1930 के दशक में जवाहरलाल नेहरू से मिली। उन्होंने एक वैकल्पिक रणनीति प्रस्तुत की जिसमें साम्राज्यवाद के खात्मे तक बिना किसी रुकावट, वापसी या समझौते के साम्राज्यवाद के विरोध में एक बड़ा संघर्ष होना था। नेहरू के अनुसार इस तरह के जुझारू संघर्ष से भारतीय समाज को समाजवादी खाके की सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक रूपांतरण के लिए तैयार भी किया जा सकेगा। बहरहाल नेहरू को जल्दी ही महसूस हो गया कि कांग्रेस के भीतर उनकी रणनीति के लिए पर्याप्त समर्थन नहीं है और इस विकल्प पर अधिक जोर देने से कांग्रेस और साम्राज्यवाद—विरोधी संघर्ष में टूट पैदा हो सकती है। नेहरू को यह भी महसूस हुआ कि साम्राज्यवाद—विरोधी संघर्ष का सबसे प्रभावी मंच कांग्रेस ही है और अगर कांग्रेस किसी भी तरह से कमजोर होती है तो यह संघर्ष भी कमजोर हो जाएगा। इसलिए नेहरू ने अपनी वैकल्पिक दृष्टि पर टूट की हद तक जोर नहीं दिया और 1937 के आते आते कदम पीछे खींचकर संघर्ष की गांधीवादी रणनीति के भीतर ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करने के लिए राजी हो गए।

32.9 अभ्यास

- 1) औपनिवेशिक भारत में राज्यसत्ता की प्रकृति पर विचार कीजिए।
- 2) भारत में साम्राज्यवाद से लड़ने की गांधीवादी रणनीति का वर्णन कीजिए।
- 3) गांधीवादी रणनीति के विकल्प के रूप में कौन सी रणनीतियां पेश की गईं?